



Swami Vivekananda Advanced Journal for Research and Studies

Online Copy of Document Available on: www.svajrs.com

ISSN:2584-105X

Pg. 435–440



न्यायिक पुनर्विलोकन का सिद्धान्त एवं भारतीय शासन व्यवस्था - एक अध्ययन

शिखा वर्मा

शोधार्थी, कॉलेज ऑफ लॉ, आई. आई. एम. टी. विश्वविद्यालय, मेरठ।

डॉ. मिथिलेश कुमार यादव

असिस्टेंट प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ लॉ, आई. आई. एम. टी. विश्वविद्यालय, मेरठ।

Accepted: 07/06/2026

Published: 17/06/2026

DOI: <https://doi.org/10.5281/zenodo.22823964>

सारांश

न्यायिक पुनर्विलोकन संवैधानिक शासन का मुख्य आधार है, जो न्यायपालिका को विधायी कानूनों, कार्यपालिकीय आदेशों और प्रशासनिक कार्यों की वैधता की जाँच करने का अधिकार देता है। संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आधारित यह व्यवस्था नियंत्रण और सन्तुलन (Checks and Balances) प्रणाली का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह सुनिश्चित करती है कि राज्य का कोई भी अंग अपनी कानूनी सीमाओं का उल्लंघन न करे और न ही विधि का शासन (Rule of law) की व्यवस्था को भंग करे। यह शोध पत्र भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन के वैचारिक ढाँचे, संवैधानिक आधार और दायरे का विश्लेषण करता है।

मुख्य शब्द: न्यायिक पुनर्विलोकन, संविधान, मौलिक अधिकार, शक्ति पृथक्करण, अनुच्छेद 13, सर्वोच्च न्यायालय, संवैधानिकता।

1. भूमिका

किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करने वाली सरकार के ढाँचे में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का अपना महत्व है। न्यायिक पुनर्विलोकन का अर्थ न्यायालय की उस शक्ति से है जिसके कारण वह विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों, कार्यपालिका द्वारा जारी किये गये आदेशों, तथा प्रशासन द्वारा जारी किये गये कार्यों की जाँच करता है कि वे मूल ढाँचे के अनुरूप हैं या नहीं। व्यय एवं मुकदमेबाजी के सामान्य खतरों के कारण इस शक्ति का यद्यपि बहुत कम मामलों में उपयोग किया जाता है, फिर भी यह शक्ति राज्य के तीन अंगों यथा कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका को मसृण व समाकलित कार्यप्रणाली प्रदान करती है। इस शक्ति के द्वारा राज्य के तीन अंगों की उन कार्यकारी और विधायी शक्तियों पर अंकुश स्थापित किया जाता है, जिनको करने के लिए वे अधिकृत नहीं हैं। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को मान्यता देने के कारण ही अमेरिका में संवैधानिक विधि की प्रगति हो सकी है। ब्रिटेन में भी इसी सिद्धांत के कारण निरन्तर संवैधानिक विधि का विकास होता रहा है। कार्यकारी अथवा विधायी शक्तियों को यदि न्यायिक पुनर्विलोकन की परिसीमाओं में बाँध कर रखा जाता है तो उनकी प्रगति खतरनाक नहीं हो सकती। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति इन्हें अपनी सीमाओं से बाहर जाने से रोकती है। इस शक्ति की सफलता उचित रूप से प्रारूपित संविधान व न्यायाधीशों की क्षमता पर निर्भर करती है, जो इसे सम्मानित स्थान प्रदान करते हैं।

किसी भी स्वतन्त्र सरकार का अस्तित्व इस वस्तुस्थिति में निहित है कि वह किसी की कृपा से नहीं, किसी की अनुमति से नहीं, वरन संविधान के प्रावधानों की छत्रछाया में है। इस निमित्त न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का तिरोहण उस सीमा तक करना आवश्यक है, जहाँ तक यह मानवीय आधारों पर सम्भव हो। मनुष्य ने कार्यपालिका को विधि के अन्तर्गत ही रखने का प्रयास किया है। ऐसी विधियाँ, जिन्हें संसद निर्मित करती है, न्यायालयों द्वारा कार्यपालिका के अतिक्रमण से बचायी जा सकती हैं।¹

2. संवैधानिक आधार एवं औचित्य-परीक्षण

भारत में जहाँ संसद और राज्य विधान मण्डल विधान निर्माण का कार्य सम्पादित करते हैं और कार्यपालिका उन्हें लागू करती है, वहीं न्यायपालिका उस विधायन की विधिमान्यता को विनिर्णीत करती है जिसे लागू किया जाना है। भारत की सर्वोच्च न्यायपालिका का एक महानतम कार्य किसी भी विधायन की सक्षमता और उसकी संवैधानिकता की जाँच न केवल इस केन्द्र बिन्दु को ध्यान में रखते हुए करना है कि क्या वह विधिक रूप से सक्षम निकाय द्वारा

अधिनियमित की गयी है, वरन इस केन्द्र बिन्दु को ध्यान में रखकर करना है कि क्या वह मूल अधिकारों से संगत है। इस निमित्त भारत में न्यायपालिका को जो शक्ति प्राप्त है वह ब्रिटिश न्यायालयों को नहीं प्राप्त है। भारत में सर्वोच्च न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन की जो शक्ति प्राप्त है वह अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है। इस शक्ति का प्रयोग कर न्यायालय संवैधानिक संशोधनों की भी विधिमान्यता का प्रश्न निर्णीत कर सकता है क्योंकि अब यह एक नियम जैसा बन गया है कि संविधान का कोई भी संशोधन वैध नहीं रह सकता यदि वह संविधान के मूल ढाँचे का अतिक्रमण करता है।²

न्यायिक पुनर्विलोकन की संकल्पना न्यायालयों को वह शक्ति प्रदान करती है जिसका प्रयोग करके वे किसी भी विधायी अथवा कार्यपालिकीय कृत्यों को अविधिमान्य घोषित कर सकते हैं। यह संकल्पना संविधान के अनुच्छेद- 31(1), 31(2), 245, 246, 254, 32, 226 और 372 के प्रावधानों में अन्तर्निहित है।³

मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कानूनों की तर्कसंगतता पर विचार करते समय विवादित कानून के मौलिक और प्रक्रियात्मक दोनों पहलुओं की तर्कसंगतता के दृष्टिकोण से जाँच की जानी चाहिए और तर्कसंगतता का परीक्षण जहाँ भी निर्धारित हो, विवादित प्रत्येक व्यक्तिगत कानून पर लागू किया जाना चाहिए और तर्कसंगतता का कोई अमूर्त मानक सामान्य प्रारूप सभी मामलों में लागू नहीं किया जाना चाहिए। मूल अधिकारों के उपभोग की परिसीमाएँ अथवा निर्बन्धन भी मूल अधिकारों से सम्बन्धित अनुच्छेदों में उल्लिखित किये गये हैं। इन परिसीमाओं और निर्बन्धनों को युक्तियुक्त होना चाहिए। मूल अधिकारों के उपभोग में राज्य द्वारा किया गया हस्तक्षेप, उनके द्वारा लगायी गयी परिसीमायें अथवा निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं अथवा नहीं, इसका विनिश्चय न्यायालय ही कर सकता है। इस निमित्त उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पतंजलि शास्त्री ने इस सन्दर्भ में निम्नलिखित टिप्पणी व्यक्त की थी-

“भारत के संविधान के ही समनुरूप विधायनों के पुनर्विलोकन हेतु स्पष्ट प्रावधान किया गया है, जबकि ऐसी स्थिति अमेरिका में नहीं है, वहाँ उच्चतम न्यायालय द्वारा संविधान के पाँचवें और चौदहवें संशोधनों के सम्यक प्रक्रिया खण्ड के माध्यम से विधायी अधिनियमों के पुनर्विलोकन की बहुत अधिक शक्ति प्रदान कर ली गयी है। भारत के न्यायालयों का यद्यपि इस प्रकार के महत्वपूर्ण, परन्तु कठिन कार्य के निर्वहन का तात्पर्य यह तो नहीं है कि वे किसी धर्म-योद्धा की भाँति विधायी प्राधिकार पर अभिभावी हो जायें, अपितु इसका तात्पर्य यह अवश्य है कि वे संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से निर्धारित कर्तव्य का पालन अवश्य करें। मूल

अधिकार के सन्दर्भ में भी न्यायालय को इसी तरह के कर्तव्य का निर्वाह करना है, क्योंकि उसे उसके सन्दर्भ में एक सन्तरी की भूमिका का निर्वहन करना है।⁴

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि संविधान में अनुच्छेद 13 का समावेश प्रचुर सतर्कता के तौर पर किया गया है। यदि इस अनुच्छेद को संविधान में न भी रखा गया होता, तो भी उच्चतम न्यायालय उन विधियों को असंवैधानिक व शून्य घोषित कर सकता था, जो मूल अधिकारों से असंगत हैं।⁵

वास्तव में भारतीय संविधान का अनुच्छेद 13 न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति केवल उच्चतम न्यायालय (अनुच्छेद 32) तथा उच्च न्यायालयों (अनुच्छेद 226) को ही प्रदान की गयी है। अपनी इस शक्ति के अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय विधान मण्डलों द्वारा पारित किसी भी अधिनियम को असंवैधानिक, अवैध या शून्य घोषित कर सकते हैं जो संविधान के भाग तीन में दिये गये किसी भी प्रावधान से असंगत है।

3. विद्वानों के मत एवं शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त

प्रोफेसर कॉरविन के अनुसार, “न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति न्यायालयों की वह शक्ति है जिसके अन्तर्गत वे विधान-मण्डल द्वारा पारित अधिनियमों की संवैधानिकता की जाँच करते हैं। वे ऐसी किसी भी विधि को प्रवर्तित करने से इन्कार कर सकते हैं जो संविधान के उपबन्धों से असंगत है। यह कार्य न्यायालयों की साधारण अधिकारिता के अन्तर्गत आता है।”⁶

मानव विकास इस बात का साक्षी है कि जब किसी व्यक्ति को असीमित शक्ति मिल जाती है तो वह भ्रष्ट हो जाता है और उसके प्रयोग से समाज में अत्याचार, अराजकता और दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य की इस शक्ति को सीमित करने के लिए सर्वदा प्रयास किया जा रहा है और इसी उद्देश्य से ऐसी संस्थाओं की स्थापना की गयी है जो इस शक्ति के दुरुपयोग पर अंकुश लगा सकें। समस्या तब और कठिन हो जाती है जब सरकार मनमाने ढंग से कार्य करने लगती है। फ्रांसीसी दार्शनिक मान्टेस्क्यू ने सरकार के सभी अंगों की अबाधित और अनियंत्रित शक्ति पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से ही शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त (Separation of Powers) का प्रतिपादन किया था। विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के सम्मिलित नाम को ‘सरकार’ कहते हैं। सरकार के अन्तर्गत यही शक्तियाँ होती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार इन तीनों शक्तियों का पृथक्करण करना आवश्यक है। राज्य की एक शक्ति दूसरी शक्ति के संचलन में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक अंग अपनी

परिसीमा में रहकर कार्य करे तथा सरकार के एक अंग में सारी शक्ति का केन्द्रीयकरण न हो, यही आवश्यक है। इन शक्तियों का आपस में सन्तुलन स्थापित करके मनुष्य के स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश स्वभाव पर अंकुश लगाया जा सकता है और संविधान प्रदत्त स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जा सकती है।

इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों के प्रयोग पर नियंत्रण रखने की शक्ति है। न्यायिक पुनर्विलोकन की धारणा का उद्भव सीमित शक्ति वाली सरकार के सिद्धान्त से हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार विधि दो प्रकार की होती है - एक साधारण विधि और दूसरी सर्वोच्च विधि, अर्थात् संविधान। देश की सर्वोच्च विधि अन्य सभी विधियों का आधार व स्रोत होती है। ऐसी कोई भी विधि, जो संविधान के उपबन्धों का अतिलंघन या अतिक्रमण करती है, असंवैधानिक मानी जायेगी। ऐसी दशा में किसी संस्था को इन विधियों को अविधिमान्य घोषित करने का प्राधिकार प्राप्त होना चाहिए और यह अंग निस्सन्देह रूप से न्यायपालिका है।⁷

न्यायिक पुनर्विलोकन का उन देशों में काफी महत्व है, जहाँ पर लिखित संविधान होता है, क्योंकि उन देशों में सीमित सरकार की अवधारणा लागू होती है। न्यायिक पुनर्विलोकन इस अर्थ में माना जाता है कि इससे किसी विधायिका की शक्तियों की मान्यता कहाँ तक उचित है तथा सरकार के कार्यों की वैधता कहाँ तक है।

4. संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका की भूमिका

सांविधानिक शासन व्यवस्था के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत विधि-निर्माण, विधि का क्रियान्वयन एवं विधि की व्याख्या करने के लिए तीन संस्थाएँ हैं—(1) विधायिका, (2) कार्यपालिका एवं (3) न्यायपालिका। न्यायपालिका स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष होती है तथा यह कार्यपालिका एवं विधायिका की शक्तियों के दुरुपयोग पर अंकुश लगाती है तथा नियंत्रण रखती है। न्यायपालिका का निर्णय अन्तिम माना जाता है। संघीय शासन प्रणाली में न्यायपालिका केन्द्र और राज्यों के बीच विवाद को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के कार्यों एवं महत्व को देखते हुए कई प्रकार के कदम उठाये गये हैं ताकि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बनी रहे।

न्यायिक पुनर्विलोकन, शब्द का प्राथमिक व विधिक अर्थ किसी अन्य उच्चतर न्यायालय द्वारा किसी अधीनस्थ न्यायालय की दोषसिद्धि (conviction) अथवा डिक्री के अभिनिश्चय का पुनर्विचारण करना है।⁸

न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमरीकी उच्चतम न्यायालय के प्रखर बुद्धि सम्पन्न मुख्य न्यायाधिपति जॉन मार्शल ने सुप्रसिद्ध *मारबरी बनाम मैडिसन* के मामले में कहा था कि—“संविधान देश की सर्वोच्च विधि होता है, इसमें परिवर्तन एक विशेष प्रक्रिया द्वारा ही किया जा सकता है। अन्य सभी विधियाँ संविधान के अधीन होती हैं और उनमें आसानी से परिवर्तन किये जा सकते हैं। जिन लोगों ने लिखित संविधान की रचना की थी, उनकी निस्संदेह यह धारणा थी कि संविधान देश की मूल और सर्वोच्च विधि हो, इस सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम होता है कि विधान मण्डल द्वारा निर्मित वे सभी विधियाँ जो संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हैं, अवैध घोषित की जा सकती हैं।”

सर्वोच्च न्यायालय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है, जिसके आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के संरक्षक की स्थिति प्राप्त कर ली है। ब्राइस ने सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है, “संयुक्त राज्य अमेरिका सरकार की किसी और विशेषता ने यूरोपीय जगत में इतनी अधिक जिज्ञासा जागृत नहीं की, जितनी कि सर्वोच्च न्यायालय के उन कर्तव्यों और कार्यों ने की है जो वह संविधान की रक्षा करते हुए करता है।”¹⁰

संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन संघात्मक संविधान का मूल तत्व है। यह विभाजन प्रायः एक संविधान द्वारा किया जाता है जो देश की सर्वोच्च विधि होता है। चूँकि सरकारों की शक्तियों का विभाजन एक लिखित संविधान द्वारा होता है अतएव यह भी सम्भव है कि वे संविधान से सम्बन्धित उपबन्धों की व्याख्या अपने-अपने पक्ष में करें। इस शक्ति विभाजन को बनाये रखने के लिए, जिससे कि विभिन्न सरकारें एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप न करें, संविधान के उपबन्धों की सही व्याख्या आवश्यक है। इसके लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता होती है जो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो और केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच विवादों को निष्पक्षता से निपटा सके।

संघीय व्यवस्था में यह कार्य न्यायपालिका को सौंपा गया है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत यह कार्य उच्चतम न्यायालय को सौंपा गया है। संविधान के उपबन्धों की व्याख्या के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देने का प्राधिकार उच्चतम न्यायालय को ही प्राप्त है। इसके द्वारा की गयी संविधान की व्याख्या से सभी आबद्ध होते हैं, इसलिए उच्चतम न्यायालय को संविधान का संरक्षक कहा गया है। उच्चतम न्यायालय न केवल संविधान का वरन नागरिकों के मूल अधिकारों का भी संरक्षक है।¹¹

उच्चतम न्यायालय को संविधान का निर्वचन करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के अन्तर्गत उसके

द्वारा उन सभी कानूनों की संवैधानिकता की जाँच की जाती है, जिन्हें संसद और राज्यों के विधानमण्डल द्वारा पारित किया गया है। इनमें से किसी के द्वारा बनाये गये कानून को जब उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी जाती है, तब यदि उच्चतम न्यायालय ऐसा समझे कि ये कानून संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध हैं तो वह इन्हें अवैध घोषित कर सकता है। उच्चतम न्यायालय की इस शक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते हैं। इस शक्ति के आधार पर न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कार्यपालिका द्वारा किये गये वे कार्य भी आते हैं जो ऐसे कानूनों के आधार पर उसने किये हों।

भारतीय संविधान संघात्मक होते हुए भी सारे देश के लिए न्याय-प्रशासन की एक व्यवस्था करता है जिसके शिखर पर उच्चतम न्यायालय विद्यमान है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय देश के समस्त न्यायालयों पर बाध्यकर है। देश की विधियों में एकरूपता, स्पष्टता तथा स्थिरता की दृष्टि से एकल न्याय व्यवस्था से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के आधार पर उच्चतम न्यायालय ने संविधान के संरक्षक की हैसियत प्राप्त कर ली है। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए जस्टिस ह्यूज ने कहा था कि “अमरीकन जनता संविधान के अधीन अवश्य रहती है, परन्तु संविधान वही है जो न्यायाधीश कहते हैं।”¹² इसी प्रकार जस्टिस फ्रैंकफर्टर ने कहा था कि “सर्वोच्च न्यायालय ही संविधान है।”¹³ सर्वोच्च न्यायालय को उसकी इस शक्ति के आधार पर ‘कांग्रेस का तृतीय सदन’ (Third chamber of the Congress) कहा जाता है।

5. निष्कर्ष

न्यायिक पुनर्विलोकन भारतीय लोकतन्त्र का एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है। यह न केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है, बल्कि विधायिका और कार्यपालिका को भी जवाबदेह ठहराता है। यह सुनिश्चित करता है कि शासन विधि के अनुसार हो और न्याय सभी के लिए सुलभ हो।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें हैं। सर्वप्रथम, सर्वोच्च न्यायालय अपनी ही पहल (Initiative) पर किसी कानून की वैधानिकता और संवैधानिकता पर विचार नहीं कर सकता है। इसके द्वारा यह कार्य तभी किया जा सकता है, जब कोई व्यक्ति या समुदाय किसी विवाद या अपील के अन्तर्गत किसी कानून को चुनौती दे। द्वितीय, न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का प्रयोग केवल सर्वोच्च न्यायालय ही नहीं करता वरन राज्यों के उच्च न्यायालय भी इस अधिकार का प्रयोग करते हैं। इतना अवश्य है कि उनके निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च

न्यायालय में अपील की जा सकती है और इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक सर्वोच्च न्यायालय ही है।

न्यायिक पुनर्विलोकन प्रणाली एक महत्वपूर्ण विधिक सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत न्यायालय किसी विधि, सरकारी आदेश, या कार्रवाई की संवैधानिकता की जाँच कर सकता है। यह पद्धति संविधान द्वारा स्थापित है और इसे लोकतांत्रिक व्यवस्था में नियंत्रण और सन्तुलन (Checks and Balances) के रूप में देखा जाता है। जब कोई व्यक्ति या संगठन किसी कानून या सरकारी क्रिया के खिलाफ न्यायालय का दरवाजा खटखटाता (knock) है, तो न्यायालय उस मामले को सुनता है। न्यायालय उन सभी तथ्यों, साक्ष्यों और कानूनी उपबन्धों को ध्यान में रखकर निर्णय लेता है। यदि न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि उस कानून या क्रिया में संवैधानिक त्रुटियाँ हैं तो वह उसे रद्द कर सकता है। न्यायिक पुनर्विलोकन पद्धति लोकतन्त्र के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण है जो यह सुनिश्चित करता है कि संविधान की व्यवस्था और नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा हो। यह सरकार को जवाबदेह रखने और नागरिक सन्तुलन को बनाये रखने का कार्य करती है।

न्यायालय की वह शक्ति, जिसके द्वारा वह यह निर्धारित करता है कि कोई विधि, कार्यकारी आदेश या अन्य आधिकारिक कार्रवाई लिखित संविधान का उल्लंघन करती है या नहीं और, यदि ऐसा है, तो उसे असंवैधानिक और शून्य घोषित करता है, न्यायिक पुनर्विलोकन कहलाती है। संवाद के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन की आवश्यकता होती है जो एक अनिवार्य शर्त है। संघीय संविधान में न्यायालयों को संविधान और व्यक्तिगत अधिकारों के संरक्षक के रूप में देखा जाता है। न्यायिक जाँच संविधानवाद की मूल अवधारणा—सीमित सरकार—को दर्शाती है।

संघात्मक होने के कारण, भारतीय संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। इसके अन्तर्गत संघीय संसद और विधान सभाओं को विधिक अधिकार दिये गये हैं। इस कारण, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय यह सुनिश्चित करते हैं कि कोई भी सरकार अपने अधिकार का उल्लंघन न करे। कोई भी सक्षम न्यायालय किसी विधायी कार्य को अवैध घोषित कर सकता है, यदि वह संवैधानिक उपबन्धों का उल्लंघन करता है। के.वी. राव के अनुसार, “लोकतन्त्र में जनमत निष्क्रिय होता है, और भारत में यह और भी बदतर है, इसलिए आवश्यक है कि न्यायालय हमारी सहायता के लिए आये।”¹⁴ यदि ऐसा नहीं हुआ तो, संविधान अपना संतुलन खो देता है और काफी हद तक कार्यकारी सत्ता बहुमत की तानाशाही पर निर्भर करने लगती है, जबकि संविधान निर्माताओं का ऐसा आशय नहीं था। यद्यपि 1950 के भारतीय संविधान में कोई विशिष्ट न्यायिक पुनर्विलोकन

का प्रावधान नहीं है, लेकिन अनुच्छेद 13, 32, 131-136, 143, 226, 227, 245 और 246 सहित विभिन्न अनुच्छेदों में इसने न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त को मजबूती से स्थापित किया है।

अतः उपरोक्त अभिवर्णन से यह स्पष्ट है कि न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की महत्वपूर्ण शक्ति है। इसके द्वारा न्यायालय विधान-मण्डल के अधिनियमों की संवैधानिकता की जाँच करता है। संविधान ही सर्वोच्च है और संसद तथा राज्यों के विधान-मण्डलों को संघीय व्यवस्था तथा मूल अधिकारों को दृष्टि में रखते हुए अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करना होगा।

सन्दर्भ

1. *यंगसाउन शीट एण्ड ट्यूब कम्पनी बनाम चार्ल्स सॉयर*, 343 U.S. 579 (1952).
2. *भारत संघ बनाम रघुवीर सिंह*, (1989) 2 SCC 754.
3. डॉ. प्रसाद अनिरुद्ध, “विधिशास्त्र के मूल सिद्धान्त”, ईस्टर्न बुक कम्पनी, नौवाँ संस्करण, 2014, पृष्ठ 576.
4. *मद्रास राज्य बनाम वी. जी. रो* (State of Madras v. V. G. Row), AIR 1952 SC 196.
5. *ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य*, AIR 1950 SC 27.
6. प्रोफेसर ई. एस. कॉरविन, “Judicial Review”, Encyclopaedia of the Social Sciences, खण्ड 8, पृष्ठ 457.
7. बसु, कमेन्टरी ऑन दि कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया, खण्ड 1.
8. डॉ. एम. डी. चतुर्वेदी, भारत का संविधान, 2007, पृष्ठ 73.
9. *Marbury v. Madison*, 5 U.S. (1 Cranch) 137 (1803).
10. James Bryce, The American Commonwealth, खण्ड 1, अध्याय 23, “The Courts and the Constitution” (Liberty Fund, 1995).
11. डॉ. जयनारायण पाण्डेय, भारत का संविधान, 2014, पृष्ठ 504.
12. “We are under a Constitution, but the Constitution is what the judges say it is.” — Justice Hughes. डॉ. पुखराज जैन, आधुनिक शासन व्यवस्थाएँ, पृष्ठ 285.
13. एस. सी. दास, द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया: ए कम्प्रेहेन्सिव स्टडी (चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1968), पृष्ठ 534.
14. के. वी. राव, Parliamentary Democracy of India: A Critical Commentary (World Press Private, Calcutta, 1961), पृष्ठ 213.

Disclaimer/Publisher’s Note: The views, findings, conclusions, and opinions expressed in articles published in this journal are exclusively those of the

individual author(s) and contributor(s). The publisher and/or editorial team neither endorse nor necessarily share these viewpoints. The publisher and/or editors assume no responsibility or liability for any damage, harm, loss, or injury, whether personal or otherwise, that might occur from the use, interpretation, or reliance upon the information, methods, instructions, or products discussed in the journal's content.
